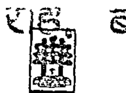
चौसठ कविताएँ

इन्दु जैन



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला ग्रन्थांक – २०३

सम्पादक एवं नियामक

लक्ष्मीचन्द्र जैन

CHOUNSATH KAVITAYEN

(Poems)

INDU JAIN

Bharatiya Jnanpith Publication

First Edition 1964

Price Rs 3 00

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय

९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता २७

प्रकाशन कार्यालय

दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी ५

विक्रय केन्द्र

३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली ६

प्रथम संस्करण १९६४

मूल्य तीन रुपये

सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी-५

क्र

० ० ० ०

गुलाब-सी सुबह मे
काँटे-सा कसकता मन —

चाँद के दर्पण मे
चोट की तरेड

मेरी बिटिया के
बादल-से पैर मे चुभी
शीशे की कनी —

°
°
°
°

चौंसठ कविताएँ

१

नीद-डूबे जगल मे
छिपा हुआ चाद

यह
मेरा वातावरण है।

तडकी हुई वासुरी मे
थमी हुई तान

यह
मेरा मन है।

बन्धन मे पले मृग शावक की
भूली हुई गति
तुम हो।

— सब अपनी अपनी जगह लाचार, असहाय —
•

१ जून १९६३

२

ख़ैयाम के अहेरी की तरह
दोनो ने फेंके थे जाल –

मेरे मे आ फँसा सूय
तेरे मे सिफ कुछ भीगे हुए फूल।

सूर्य को उठा लिया मस्तक पर
गव से।
— तुम
थुरे फूल धर हथेली पर
देखते रहे।

पिघला निजत्व और तपा हुआ माथा ले
द्वार पर पहुँची
और
बैठ गयी चौखट पर।

तुमने
उछाल दिये खिन्न फूल
आले मे
और एक बेफिक्र तान गुनगुनाते
चल दिये फिर से
तट की
परिचित
डगर।
●

२ अक्तूबर १९६३

३

सेम म फूल आ गये
सहेली !
देख – आ !
या कहूँ –
जाडे मे
शीशे की झील पर
तैरी कपास ।
या
धूप के सुनहरे हरे
सेन लहरा गये ।
देख – आ !

छुटे बाल, गाल छू
हवा ने बताया था –
'रात को बसन्ती रग
आगन मे छाया था ।'

छाया था
रात को बसन्ती रग ?
उगी थी केसर पहाडा पर ?
उगी ही होगी तब –
रात झूठ बोल कर
बचेगी क्या ?

देखा था भोरे ही
कुहरा तो खुद मैंने।
बूँदें भी परसी थी।

और फिर —
सबसे बडी बात —
यहा
सेम जो फूली है।

●

९ फरवरी १९५७

४

अन्दर स फोडता
प्रवाह
चला आता है — तोडता
मस्तक कर ऊँचा ।

एक-एक पसली की दुश्मन
साँसो की घटर
घडी असह ।
कहा राजरोग प्राणो पर आ बैठा ।

पिजरे म इतना भी नही
नभ मिला —
पख हिल जाते,
चोच खोल पाता अन्धा पाखी,
बोल कभी पाता —
वह प्यासा है ।

बात बहुत सीधी-सी कहनी थी —
उलझ गयी ।
लमहे भर म दुनिया
इधर-उधर
हो जाया करती है ।

धरती, अम्बर, सोना, नीलम
सब
उलट-पुलट पल-भर मे होते ह।

तीखी-सी सुई चुभी
हाथ हटा
सुई नही रुकी
और
चुभन नही थमी,
नोक बरछी-सी पैठती चली गयी।

पतले सूराख से
जगह जरा पाते ही,
युग-युग का दबा, रुका
अन्दर से फोडता
प्रवाह
चला आता है तोडता —
मस्तक कर ऊँचा !
●

२६ नवम्बर १९५७

५

दूर बहुत दूर वहाँ
सूनसान
प्यास फटा रेगिस्तान
पैर धँसे
हाथ खुले
बाँह कहीं गही नहीं गयी
वहाँ
बाँह कहीं मिली ही नहीं।

•

१४ जनवरी १९५७

६

बीते पल सपनो से,
दूर हुए जाते हैं।
सपने दिन मे बीती घडियो-मे,
पास बहुत,
मन घेरे, बेसुध गोदी मे ले,
लोरी दे,
थपक-थपक गाते हैं।

कैसी तब जाग
और सोना ही कैसा तब !
मिला-जुला उलझाया !!

दूरी की घुमरीली,
ऊँची-नीची सडके,
— थके-थके सपनो के बैलो को —
— हसरत के उँघे झुके राही को —
लगातार रोती सी घण्टी सुन
यही कही,
गले लगा,
आँसू भर,
रोक लिया करती है।

मानो मन से पत्थर सरकेगा।
मानो तन की गाँठ
ठगे गगरा के गम-गम आँसू मे
मोम बनी पिघलेगी।

बीते पल सपना से —
सपना न आने दे।
ये ही मेरे — अपने —
आत्मज हैं।
रम मे रम आज,
अभी।

●

२४ नवम्बर १९५७

७

मैं तुम्हारी खुशबू में पगी
अपने आँचल से डर गयी हूँ,
साप की तरह
गुजरक में लपेट
दंश कर लेता है मन पर,
रगों में बेहोशी के झरने बहाता है,
सुलाता है।

इस आंचल की तेजोमयी आंखों से
मन्त्रमुग्ध हिरनी सी
बँधी हुई
खड़ी हूँ।

व्याध या वधिक की
दिशा से अजानी
मृत्यु के वृत्त में
काले मोती सी
जड़ी हूँ।

•

२१ अगस्त १९६३

असंतोष की तीखी
तेज़ आग धूप से
प्राणों का फूल
विरस,
सूखा,
मुरझाने दो।
जल ही अब जाने दो
मन के
मधु किंशुक को।

उर्वर माँ धरती है।
हिरदय में
अमृत है।
दुधियाया धुला धुला
उजला दुलार है।

जले — फूल प्राणों का।

राई से सील सील
बीज जब छिटकेंगे —
शायद अनुभूति बहुत पौदों में ।

दूर्वादिल-सी
चिकनी —
होकर सहस्रमुखी,
उग आये —
छा जाये —
हरी हरी
उवर माँ भूमा की
रस-भीनी परतों पर।
●

१२ मार्च १९५८

९

घुटने तोड दिए हैं
असह्य एक पल ने,
हाथों में कम्पन भर
छोड दिया कगार के मुँह पर।

खडे रहो
मेरे दर्प!
सूरज डूबने तक खडे रहो!

जब तक आँखों का तेल चुके,
बोल की मिठास घुले,
विश्वास स्खलित हो रुले,
— तब तक टिके रहो!

एक टूटे पल से
दूसरे भग्न पल की कडी तक
— जुडे रहो!

अँधेरे की दया-भरी दृष्टि मे
भरे हुए
भहरा जाना।
कोई भी इतिहास
शेप
छोड मत जाना।
●

१२ सितम्बर १९६३

आ गया पतझार
पत्ते झर गये सब।
गोल चक्कर बाँध उट्ठी धूल।
रस टपका—
गये सब डालियों के हरे मुखड़े सूख।

बज रही टहनी,
हवा म
हिल रहा पत्ता।
उड़ा-टूटा, बरस-से लग गये
गिर यहा आने मे।

धूप मटमैली हुई
भू पर दरारें अब पड़ेंगी—
नीद की सी झोंक झावे में,
कही पर दूर बोला काग
फिर से उठी मैं कुछ जाग

मेरे सन्तरो के बाग मे
कुछ फूल आये थे

सभी क्या टूट जायेंगे ?
खटीली और कड़वी खुशबुएँ
हर एक पत्ती से अचानक सोख
मिट्टी हवा में मिल
भाग जायेगी ?

वहा फिर और छोटे
धल के चक्कर उठगे ?

●

२५ फरवरी १९५६

११

— और तब फिर याद आयेगी
ढलेगा उम्र का जब चाँद।
बीत पल सरकते जा रहे जो—
— जो नहीं हम पकड़ पाते हैं
— जिन्हें हम और भी जल्दी बिताते हैं —
कि
आगे और कुछ पल
हाथ लग जायें।

अनेकों चित्र उगते हैं

बड़ी ही तेज जाती रेल है।
बिलखती, चीखती
कुछ रेंगती, खाती पछाड़ें।
असह उस शोर से ऊपर उठी आवाज
करते बात तुम
समझा रहे।
इस कठिन कोशिश से
तुम्हारा गर्म है माथा,
गले की नस चमक आयी।

बड़ी मजबूरियाँ साथी
जिन्हें

बस मन समझता है
हमारी राह आती है ।

अनेका चित्र उगते है—

वहा नीला बहुत आकाश था,
नीचे दिये थे, नाव थी,
गगा बहुत गहरी,
चमकता चाद था ।
सब था वही—मन था
मगर कुछ और भी था—
मन जहा अटकाव खाता था ।

हमारे पल—
किसी के पल ।
हमारी 'चुप'—
किसी को बोलने का समय देती थी ।

तभी बस एक झटका खा गयी,
तुम उठ गये—
ढलने लगा चन्दा—
उमर कम रह गयी—
दुहरी कमर पर याद की गठरी
उन्हाने लाद दी ।

●

२७ मार्च १९५६

— और तब फिर याद आयेगी
ढलेगा उम्र का जब चाँद।
बीते पल सरकते जा रहे जो—
— जो नहीं हम पकड़ पाते हैं
— जिन्हें हम और भी जल्दी बिताते हैं —
कि
आगे और कुछ पल
हाथ लग जायें।

अनेकों चित्र उगते हैं

बड़ी ही तेज़ जाती रेल है।
बिलखती, चीखती
कुछ रेंगती, खाती पछाड़ें।
असह उस शोर से ऊपर उठी आवाज
करते बात तुम
समझा रहे।
इस कठिन कोशिश से
तुम्हारा गम है माथा,
गले की नस चमक आयी।

बड़ी मजबूरियाँ साथी
जिन्हें

वस मन समझता है
हमारी राह आती है।

अनेकों चित्र उगते हैं—

वहा नीला बहुत आकाश था,
नीचे दिये थे, नाव थी,
गगा बहुत गहरी,
चमकता चाद था।
सब था वही—मन था
मगर कुछ और भी था—
मन जहाँ अटकाव खाता था।

हमारे पल—
किसी के पल।
हमारी 'चुप'—
किसी को बोलने का समय देती थी।

तभी बस एक झटका खा गयी,
तुम उठ गये—
ढलने लगा चन्दा—
उमर कम रह गयी—
दुहरी कमर पर याद की गठरी
उन्होंने लाद दी।

●

२७ माघ १९५६

धाम म रंगी हुई
भूली रही
उठी—
और बाढ़ ने बहा लिया ।
टूट पड़ी घटा मर पर
बिछ गयी धरती पर
लहर पर ।

उतर चली याद की डुबाई—
पा लिया मूँगा मोती बिछा तल,
खो गयी—
लौट नहीं पायी ।

•

२९ अगस्त १९६३

१३

एक क्षण
अकस्मात्
सब कुछ सपना हो गया,
सपने सा असंतुलित, मिथ्या,
और हमारा सारा विश्वास
आँखो में रेत भर
सोने के प्रयत्न मे रत हो गया ।

जब हम
सो नही पाये
असहायता स्वीकार कर
शस्त्र दिये डाल
और
सिर नीचा कर
नगे पाव
तपी सडक पर दूर तक चले गये ।
न कुँआ ढूँढा,
न छाँव ।

सडक सीधी सागर के मध्य जा
डूब गयी,
एक घूँट पानी के बिना
प्यासे, हम सब,
उसी के साथ-साथ
भीतर तक पैठ गये,

और फिर कभी भी
ऊपर नही उठे ।

तुम तो निरे पागल हो ।
तुम ? और दोषी ?
तुम भी तो वही थे
भीड म साथ-साथ,
और यहाँ भी साथ हो
सागर के तल मे ।

किन्तु सुनो
यहाँ कोई बन्द सीप
मत ढूँढना,
अधर मत खोलना —
प्यास की अतृप्त मणि कण्ठ मे धारे ही
काई की तरह फैलना —
लेटना ।

यहाँ आकर
सारी भीड सोती है ।
पैरो के छाले
नमकीन पानी से धोती है ।

इतना मत भूलो —
हम तो यहा भी विशेष है ।
इतना ही काफी है —
एक साथ जीने क
थोडे पल शेष हैं ।

●

४ अक्तूबर १९६२

बिना गिरे आँसुओं
चमकीली आँखें
लिये-लिये हँसूँ।
क़ैद बिना हुए
क़ैद रहूँ।
दूर से तुम्हारी
स्वरहीन आवाज़ सुनूँ
—फिर सुनूँ।

जागती रहूँ —
सोती रहूँ।
थाली सरका कर उठ जाऊँ,
बने हुए ग्रास डाल दूँ चिड़िया को।

सब करती हुई
कुछ न करूँ —
बोलती हुई चुप रहूँ।

होता रहे वह सभी कुछ
जिसकी कभी चाह नहीं।
नहीं करूँ वही
जिसे किये बिना
निबाह नहीं।

मुझे एक सपना दिखता है
अक्सर सोते जागते,
और न जाने कैसे-कैसे
छोटे-मोटे सपने आ कर मिल जाते हैं
एक अकेले अलग खडे सपने मे

बहुत घनी, कल्साई, हरी वेल लतरो से
गुँथा, छता,
आकारहीन —
बँगला ही है।
खिडकी सी है कोने म, पर —
— बस —
। लतरो का कुछ विरल झुण्ड —।
उसमे कोई है स्थित अविचल।
लम्बी सफेद कोहनी,
घूमा मुख,
दीख नही पडता जो।
लगता है —
वह 'कोई' क्या है ?
स्पष्ट — पुरुष है।
तर्क ?
— मात्र —
मै नारी हूँ ना !

बस इतना ही।
और एक —
पत्तों में डूबा
छायादार जंगली रस्ता
ताँबे के पत्तों का लम्बा, सूना।
हवा नहीं जो चामर डोले।

तभी — अचानक
व्यू मास्टर के नये चित्र-सा
चौड़ा, नीला सागर खुलता।
जिसमें जा कर दूर
कटी धरती-सा वह रस्ता मिल जाता।
उसके पतले, मटमैले, खतरीले कोने पर
कुछ बच्चे
बाल सुनहरी, हवा मिले —
बस
खड़े हुए हैं।
●

१५ दिसम्बर १९५५

१६

इधर दो दिन लगातार तुमसे मिलने के बाद
लगा
कि हमारे अचानक-बँधे सम्बन्धो मे
मीठी नरम घास उगने लगी है ।

यह लगने लगा
कि
इसकी ठण्डी हरियाली ही थी
वह —
जिसके लिए बरसो से
आँखें धुँधली थी
जल रही थी ।

और यह भी
कि
ज्यादा पास आने से टूट जाने वाला प्यार
बिना पास आये पनपता नही ।
मै तुम्हारे नजदीक आऊँ
या
दूर हट जाऊँ ?

मैं खतरा उठा लूँ
या घुटने टिका दूँ?

तुम्हारी आँखो के पिघल जाने की उम्मीद म
रखूँ
या पहले ही डर कर मान लूँ —
तुम्हारी आखे
नही हैं मेरा घोसला —
और उड जाऊँ?

मै क्या करूँ?

हमारे अकस्मात् — बँधे
ऊमर सम्बन्धो मे
मिठास आने लगी है।
●

९ सितम्बर १९६४

१७

यह असम्पृक्तता क्या है ?
जहा जहा उलझी हूँ
सुल्झ गयी हूँ ।
किन्तु यह सीधा सुलझाव,
यह सपाट रेखा,
यह अनुभूतिशून्यता
क्या है ?

कही
यह किसी का
बेहद गहरा दाव तो नही ?
कही
यह बिना चुके अह को झुकाने का
नया पेच तो नही ?
दूर खडी सोच पाती हूँ —
देख पाती हूँ —
डूब नही जाती हूँ —
यह क्यो है ?
क्या है ?
जो भी है
खतरनाक है

•

२७ अगस्त १९६३

१८

यह हवा का सद-सा झोंका
बहुत नीला
बड़ा मीठा
उडे, प्यारे, गुलाबी बादलो पर
पेंग लेता,
झूलता,
आ कूद धानी टहनिया को
चूमता,
चुपके झरोखे से फिसल,
अनजान ही मे हाथ दोनो थाम कर
मन प्राण सब सहला गया
है
यह हवा का सद सा झोंका !

•

१२ जनवरी १९५८

जिस दद से तिलमिला कर
तुम्हे पुकारती हूँ
कितना उपहासास्पद है ।

आख मे टँगा तारा
युँझला कर झटक देती हूँ ।
• गीत गुनगुनाती —
उदास हो जाती हूँ ।

जिस अकुलाहट की आँधी ने मेरा
तन मन झकझोरा है
वह भी —
वह भी कितनी लघु है,
कितनी अस्तित्वहीन दिखती है ।
जडें फैलाती हूँ,
दप का बोध डाल पैर जमाती
— उड जाती हूँ ।

बडे-बडे अस्तित्वो के बोध कराने वाले तुम
जब
उमी आँधी म
मुझसे टकराते हो,
दद की शिला तले

छिपे पाये जाते हो,
जब
तुम मेरे सहगामी, सहभोक्ता बन आते हो

हँस हँस तब धूल-सी
दोहरी हो जाती हूँ।

फिर भी तो
लौट-लौट
उलझन में —
भटकन में —
तुम्हें ही बुलाती हूँ।
●

१६ जून १९६२

२०

पतली पगडण्डी सी
धूल-भरी सूनी माग
अधर-धरे प्यार के
मगल नक्षत्रों से भरी गयी।

माथे पर ज्योति झरी।
पर
मन की कोयल मूक
निधि की महत्ता से
डरी डरी रही।

•

७ अक्तूबर १९६३

२१

मैंने ऊँचे बादल देखे
चादी के सुन्दर बादल थे।
कुछ ठोस-ठोस —
कुछ पिने हुए —
क्या चाँदी भी रूई-सी पिन सकती है ?
(क्या नील नदी नीली है ?)
— तो नील नदी मे सेत कबूतर
मोटे, गुदगुदे, फुदकते
ऐसे ही बादल थे।

मैंने सोचा —
"अब भी तो बादल अच्छे लगते हैं मुझको।
अब भी तो मन म
अनजानी, अनबूझी
एक उदासी घिर आती है।
वह कसक,टीस,
वह दर्द —
सभी है
जिनको 'खालीपन की मौज'
बूझ कर छोड दिया था।

घबराहट हो गयी मुझे —
क्या मैं फिर से
पीछे चल दी ?
कैसे आधुनिक कहाऊँगी
यदि
फिर से गीत
बहारों के,
काले पीले दिन रातों के,
फूलों के,
तितली, भौरा के,
फिर
प्यार और मनुहारों के,
रच लूँगी
फिर से गा लूँगी —
कैसे आधुनिक कहाऊँगी ?

क्या जाने क्या हो गया मुझे !
वह मौज गयी
पर साथ गयी मेरी कविता ।
जग की पीडाएँ लिखा करूँ ?
आत्मानुभूति को अंकन दूँ ?

— चिंता जब मुझ तक आती है —
(भैया बीमार पडा करता —
'ये' बहुत थके से आते हैं)
तब कविता सूझ नही पडती ।
कटुता इतिहास बना रक्खूँ —
कुछ

मन मे उमग नही उठती।

शायद मैं कवि ही नहीं —
मुझे कवि की-सी
सूक्ष्म प्रतीति नहीं —
अनुभूति नही मुझमे गहरी !
तो ?
दोना खो दूँ
— जीवन —
—कविता —?

जाने दो —
'इनकी' बनी रहूँ —
सँकरी सीमा
पर
सफल रहूँ।

कवि बन कर ही क्या पाऊँगी ?
●

१९५५

२२

'चलो'
कहो एक बार
अभी ही चलूँगी मैं —
एक बार कहो।
सुना तब 'हज़ार बार चलो'
सुना —
आखें नम हुइ
और
माथा उठ आया।
बालू ही बालू म
खुले पैर, बँधे हाथ
चादी की जाली म सिमट,
बहुत दूर —
बहुत दूर नीलम का सागर तब
उमड पास आया।

अनछुए, अनसीमे,
फिसले, अबरकी और
इन्द्रजाल तट पर
हम चलें।

कहाँ ?
लहरा पर तिरें
कहाँ ?

खोज, भटक
मधु पा कर
पीछे ही लौटेंगे ?
लौटेंगे भी तो क्या
साहस से तिल-तिल कर
पल पल झुरने ही को ?

चलना भर सोचोगे
ऐसा क्या होता है !
लहरों में उतरोगे
है इतना हलका मन !
●

१६ मई १९५७

२३

सूखे दिन मे रस भीनी बातें
कैसे हों ?
बोलो ।

बातो की परतें — जाने दो
आज
नही ही खोलो ।

बीती रात भली थी क्या ?
साझ से निंदिया आयी—
जब वो जागे तब मैं सोयी
जब सोये तो
पल भर मेरी
आख नही लग पायी ।

आज काग बोला था
मैना सोती छूट गयी थी ।

मैंने देखा — जाने कैसे
काला भौरा
कमल कली को छेद
भोर से पहले उड आया था ।

बड़ी-बड़ी तारीख
मगर दिन
आज गलत आ पहुँचा । —

रात कहीं अटका, भटका
सूरज
भूले मे
मौन शिखर को छोड़
साँवले पर्वत
भरमाया
है ।
●

१६ जनवरी १९५७

२४

बाँस के बहुत घने झुरमुट की
सिरेदार टहनी
— लचीली —
छोटी सी चिड़िया का श्याम वर्ण
चतुरा की आँख किन्तु
पीली ।

लचकीली टहनी पर
। चुकमुक यह चिड़िया लो !

यात्रा की स्मृति-निधि से
बहुत छान-बीन कर
मित्र, बस तुम्हारे हित
जापानी चित्र एक
लाया हूँ ।

•

२८ जून १९५९

२५

होंठ सी कर
हाथों मे हथकडी डाल ली है,
गति बाँध दी है,
गले मे फन्दा पहन
डोर तुम्हे साप दी है
मैंने ।

आँखें भी कर लूँगी बन्द
और तुम्हारी मुट्ठी मे दबे
भवितव्य के सहारे
छोड दूँगी
अपने सारे किनारे --
तूफान --
रेत के घरौंदे —
सीपी के सेतु —
प्राणापण की वेला मे
निष्कम्प रहूँगी
तनी हुई सीधी
●

२० अगस्त १९६३

२६

भोर का अजब सपना —
(टूटता तारा पवन ने थाम लिया जैसे हो)
बार-बार लगातार
हठ करके आया।

लाख बार बरजा था उसे—
"बन्धु,
ऐसी मै सन्धि नही चाह रहा —"
अकुलाहट यो भी क्या जाती है ?
स्वर्ण मृग! जीवन को ध्वस्त किया चाह रहे!
(चाहे वह जीवन
सोने की लंका
ही क्यो ना हो!)

ओ सपने!
लौट जा,
कल फिर मत आ जाना।

जिस की प्रत्यचा का बाण बना फिरता है —
उस शब्दवेधी से कह देना —
"यो ही चलाया था ?
वहाँ तो शब्द भी नही था "

तब तक मैं सोच लूँ —
मान लूँ —
सपना तो सपना है
पहले पहर का
या
तीसरे पहर का
●

२२ जुलाई १९५९

२७

याद की उँगलियाँ द्वार खटखटाती ह
आँखें भीग जाती ह ।

रगिस्तानी मन म बहार फूट आती,
सागर के शख बजते,
नभ से फूल झरते,
अगणित सीपियो के हारा तले
कण्ठ मे सहमे हुए अश्रु ढलते ।

यह सब अकस्मात् होता है,
मन क्यो बोझ ढोता है ।

और
अनची हा, अनपेक्षित क्षण आ कर
(मोह-भरी दृष्टि म रुका रुका,
नम हथेलियो के स्पश म थमा-थमा)
असरय उपहार गोद दे जाता है ।

अपरिचय के सूने पल म
अनायास
घना परिचय ढूँढ
उँगलिया उलझती ह ।

फिर वही पल
स्मृति का आवरण ओढ,
छद्मवेशी,
आता —
द्वार खटखटाता है,

हमें
रातों जगाता है।



१५ अगस्त १९६३

२८

आत्मारहित पशुवत् देह की पुकार
अपने निरावरण दद म
असहाय है —

मेघहीन फीके,
नीले रँगे
आसमान-सी
पसरी —

पलकहीन आख सी
निर्निमेप —
यह पुकार ।

जिसकी असख्य प्रतिध्वनियाँ
उठती ह
फूला के दहकते गुच्छो म,
हिलत
या चुप पडे परदो म,
उमस
घटाओ म,
सूखी प्रज्ञा की चटखती रगो मे ।

इतने तेज नाखूनो से
पुरच जाने वाली आवाज
क्या असत्य
अस्वीकाय है ?
और
हर एक उघडा हुआ सत्य
क्या अन्तत
सारे सौन्दय की मज्जा के ढेर का
नही है
अभिन्न अश ?
●

२१ माच १९६४

२९

उस इंगित को तुम्हें बता दूँ
तुम हँस दोगे —
"ऐसी छोटी बात जहाँ सब-कुछ
हो जाये
वैसा हलका प्यार वहाँ है !"

यही बात बस —
यही मापदण्डों की असम आस्था, केवल
मन पर पहरेदार बनी है
तीन भयानक मुँह वाले
प्रगल्भ कुत्ते-सी ।

मंगल को जाती हतारा
हत नयी वधू सी मेरी उमंग
हाथ में अमृत पात्र ढँका ही
लिये
द्वार पर ठिठक, खड़ी रह जाती है ।

तब
बड़ी अनिच्छा,
बड़ी विवशता से
अमृत ही की दो बूँदें
— दो अलभ्य मोती—

विशाल मुँह मे टपका,
साथ उसे
आगे जैसे तैसे पग बढ पाते।

यों बार-बार आना-जाना
यों बार-बार मोती बिखेर
क्या कुछ सच पायेगा, बोलो ?
क्या कहीं दूर के किसी अनिश्चित क्षण म
प्यासी हो
अनजान
कटोरा झपट
पियेगी सब अमृत,
फिर जन्म-जन्म मेरे मन मे जी जायेगी ?

लेकिन हो क्या ?
यह आर-जार निःश्वस बन्द भी कैसे हो ?
मेरी इंगित की चाह
तुझे बरबस ही सदा हँसा जाती।
वह हँसी शम की असह भार
कन्धे पर मेरे लाद
झुका मुझको जाती।
तब मैं
बस चुप रह जाती हूँ।
●

१९ मार्च १९५८

३०

रात-भर गीत चले
ओढ परछाइयाँ।
पीपल का मोनरंग पत्ता
अकेला ही कांपा।
झील करवटें बदलती
हिलकती रही
गम का मायूस कमल रहा —
मुँदा
— चुप रहा।

सहमी हुई रात —
सहमी हुई रात में गीत
और पत्ता
और झील
और सूनापन
— गम है —
पर गम गलत करने को कहते हो।

तब क्या मैं
गीत से चादरें उघाड़ दूँ
टहनी से पत्ता उतार लूँ
या

झील के वक्ष रखूँ हाथ
कहूँ —
'चुप हो जा,
सिहर मत।
क्योंकि तेरी सास मे महक है
महक याद
यहाँ
याद ही गम है
सखो।'



२४ फरवरी १९५९

३१

यदि जीवन वह होता ना
जो है !
यदि चाद यहीं आ जाता
सदा फूल खिल जाया करते
मन म —
चन्द नयन में —

क्याकर उगत कमल तुम्हारे दृष्टि-परस स ?

कैसे
नन्ह भावा के पछी
अकस्मात् भोरे
उतराते,
आगन आते ?
सारे घर म दूर-दूर तक
कैसे तिनके बिखरा जाते ?

●

२० सितम्बर १९६३

३२

चाहती हूँ
बिना रुके सीधी चली जाऊँ,
द्वार वही खटखटाऊँ,
बेसुधी का वही बिन्दु
वही चरमोत्कर्ष
बार-बार पाऊँ।

गया हुआ आयेगा,
हाथ से फिसला हुआ
मुट्ठी में आ कर बँध जायेगा।

आकाश निरभ्र नीला हो उठे!
बर्फ में जमा-जमा सूरज उगे!!
बहुत हरी घास,
गुलदावदी,
मीठी मटर,
डेलिया,
पैन्जी का रंग भरा उत्सव
जाड़े का आगमन
बार-बार लिखे!!!

मेरी कविता म,
तेरे काम के व्यस्त क्षणा म
दमकती
सुनहरी परछाइयाँ तिरें।
तब —
तब मीत !
गया हुआ आयेगा,
भूला हुआ गीत
अधर गुनगुनायेगा।
•

२५ सितम्बर १९६३

३३

उजले उजाले से घिरी हुई चलती हूँ
जिसमे तुम्हारा सतरग प्रवेश —
बर्फ पर किरणो-सा,
होता है।

ऊदे कुहासे मे बहुत पास आ कर
तुम दिखते हो —
चमकदार मणि से।
कोहरे से नम पडी आँखो का
सारा जल
भाप हो जाता है।

तब सूखी आँखो मे
चुभते हैं सातो रग —
आँखे
दृष्टिहीन रह जाती हैं।

●

१५ मई १९६१

३४

गीत की असह्य साधारणता
और
उभरा हुआ दर्द ।
उस दर्द की परिणति
यही है —
बस यही ।
चम्पा की जड़ का मधुहीन रस
चोटी तक पहुँच नही पाया ।

अस्थिहीन शब्दो के इन त्यक्त कंचुल मे
मुझे मत भरो ।

एक व्याहृति तुमने दी —
एक व्याहृति तुम हो
— सब मेरी आस्था,
सब मान्यताओ की ।

कभी कभी लगता है —
'लो, बस अब उतर गया —
असावधानी की खूँटी पर
लद गया भ्रम का लबादा !'
लेकिन फिर
वही,

वही भूल।
तुम तो यही हो — आवरण से अभिन्न।
व्यथा के शीत से मिहर कहाँ पाओगे ?

एक दिन बेला के फूलों की आँख खुली
आसमान ताँबे सा तपा हुआ
झूठे सलमे के तारे और चाँद
टूट कर टपक रहे।
●

८ मई १९६१

३५

गुलाब सी सुबह मे
काँटे-सा कसकता मन —

चाँद के दर्पण म
चोट की तरेड़

मेरी चिड़िया के
बादल से पैर मे चुभी
शीशे की कनी —

●

३० सितम्बर १९६३

३६

वहुत समझदार
वढी वयस का
दुर्निवार प्यार —
जो दूसरे को अन्य वाहो मे समर्पित जान
स्वय भी अन्यत्र समर्पित है !

हर मजबूरी मे पिघलता
हमेशा का अवश तन
और
शान्तिकामा वुद्धि
— ग्लानि के ताप से
बचा ले जाती है,
हर बार
लहर से उछाली
सीपी-सा
असम्पृक्त, अकेला छोड जाती है ।

फूँक फूँक पग रखता
सँभला, अनुन्मत्त
यह वयस्क प्यार !

•

अकुलाहट स्वीकारते लजाता,
सारी अभिव्यक्तियों को
अनछुला मान
दामन छुडाता,
समस्त प्रयुक्त शब्दों से बचता बचाता —
अपनी झुँझलाहट में कसा हुआ
गर्वीला, अकिंचन

किन्तु फिर भी
सर्प-सा उभरता,
सिर पर सवार
यह
प्यार !

●

९ जुलाई १९६४

३७

पदाघात से अशोक फल आता है,
सुना है —
मसीहा मुरदे जिलाते थे।

— एक स्पर्श यह है —
रात-रात भर चन्दा जगाता!
नन्हा आघात झरने बहाता!
आँखों के सुनहरे सूर्यमुखी
ज्योतिफूल के साथ
घूम जाते हैं —
हम सब कुछ भूल जाते हैं!

बीती हुई अर्थहीन घड़ियों के
चिह्न भर शेष रहे।
आज तो
बार-बार
याद यही आता है —
"अशोक पर ज्वालाएँ उगती थीं,
मसीहा मुरदे जिलाते थे!"

क्या कभी दिन-रात
कान्तिहीन जाते थे?

●

११ सितम्बर १९६३

३८

अलसी भरी हवाएँ डोली ।

मीठी हरी मटर के फूलो,
सरसा की गलबाही डाले —
अरहर के गहरे पत्तो म,
फूले पीले लाख सितारे,
झडबेरी म मनके फूटे
तपी मटीली धूल उडी फिर
आसमान से धूप झरी ।

नमक भरे-से चने उगाय
चटकीली दिन कली खिली ।
लाल रत्तियाँ लोट-लोट कर
काली नटखट आखो इकटक
भारी अमरूदो का — पानी भरे लालची
ताक रही ।

चिट्टे साफ नये घोडे पर
कसे लगाम, ऐंड दे बाकी
नीली नीली हवा
उडी ।

•

१९५६

३९

पख लगा दूर उड जाना
यही है क्या ?
मतरगे इन्द्रधनु झूले पर पेंग
यो ही बढाते है ?

क्यो ?
ये पख मोम के तो नही ?
आधी उडान मे
तनिक ताप पा
क्या —
गलेंगे कही ?

नही
भुलावा दो मत ।
इन्द्रधनु तो है ही भ्रमजाल ।

लेकिन श ऽ ऽ ऽ
चुप रहो ।
शोर मत करो ।
सोने दो ।
यह भी हो सकता है
सपने कभी टूटें न,
पेंचदार गलिया अ तहीन हो ।

और
सभी कुछ —

जागने की
रोशनी की,
परिधि के बाहर निकल जाये

•

१८ सितम्बर १९६३

४०

रग बहुत मिल गये
फूल बहुत खिल गये
तारे असख्य है
लेकिन
पहले
तुम बोलो।
लो
तो लो।

आह! तनिक रुको-रुको
यही रग तुम लोगे?
मटमैला धूमिल सा!
यही फूल चुनते हो
टूटी पखडियो का!
यही देर से उगता
जल्दी से झँप जाता —
रगहीन तारा तुम्हारा है?

छुपी छुपी बातो को ढँका हुआ रहने दो।
तुम लो गुलाब और चाद
और अरुणाई
मेरा उदास मन
छूओ मत,

सहने दो।

●

५ जनवरी १९६१

४१

तपे हुए माथे पर बर्फ सी उँगलियाँ
छुआ दूँ —
किन्तु हाथ उष्ण हैं।
थकी हुई आँखों में
उँडेल दूँ अक्षय शान्ति —
किन्तु अपने ही दृग दृष्टिहीन हैं।

सूखे अधरों की परतें
रक्तहीन होंठ हर पायेंगे क्या ?

हर हारी हुई राह स्वयं मंजिल हो जायेगी।
हर थका हुआ पग अन्तिम —
हर झुकी पलक
मिथ्या जय देगी —

और —
पल प्रत्येक
सौरभ विहीन,
सूखा,
झरेगा।

●

१६ सितम्बर १९६३

४२

ओ मीठे, निरथक बोलो के प्रणेता होठ !

ओ हँसती हुई आखो !
कैसा स देह का बादल
देखते-देखते
तुम्ह मटीला कर जाता है ?

ओ सूखी हथेली वाली
दाशनिक बाहो
क्यो मैं तुम्हारे घेरे मे
छाया बन जाती हूँ ?
●

१९ मई १९६१

सिर्फ याद और याद और याद

अन्य कुछ छुआ नही जाता
नही मन भाता
नही कही उगता कुछ।
सिफ सुबह खिल हुए कुँई फूल
ताल म —
तट पर कुछ सूयमुखी,
शाम का मरी हुई मुमी सी पँखुरिया।
और बस याद, सिफ याद

खिडकी से लगे हुए कीकर की गन्ध
गाया की घण्टियाँ —
शाम के साँवले कपोल पर
आसू की छिटकी कुछ
कनिया
शब्दहीन शोर की उगाती उदासी
और सिफ याद बस याद

डूबती उतरती
पल-पल लहर पर —
उसी एक स्मृति की
महक भरी
पाल खुली
नाव —
•

२७ सितम्बर १९६३

४४

मोहक बन्धनो म अडी हुई फाँस
सदा नही टीसती

आँखो पर उतरे हुए जाले भी
सदा नही दीखते

किन्तु

विप फैल जाता है
रग भी धूमिल हो जाते है

और

ऐसा मोड आता है —

मजिल खो जाती है
राह छिप जाती है ।

•

१० माच १९६३

४५ 

वहुजन की पीडा के वन से
आओ —
पेड तराश दें,
काटे वुहार कर
माग निकाल दें ।

हाथ तो क्षत होगे
किन्तु क्या केवल हमारे ही ?
विक्षत पैरो की स्मृति दुख हरेगी ।

कमर भी झुकेगी
लेकिन
दृष्टि तो उठेगी ।

प्रणय के पलो को कमा ले —
अर्जित कर ले सुख की अनुभूतियाँ —
आखो को निरपराधी वना लें ।
वहुजन की पीडा के वन से
कॉटो की झाडिया हटा दे ।

अकम के श्राप से ग्रसे हुए
हम सब
निरथक सम्मोहन में बँधे
चले जायेंगे — कब तक ?
कब हमारे शब्द फलेंगे ?
निष्क्रियता के लिए ढूँढे बहाने
चुकेंगे कौन तिथि ?
दपण से दृष्टि हटा लें।

•

हर एक अपने से दूजे को
माग नहीं
मजिल बना लें।
बहुजन की पीडा के वन से
पेड तराश कर
माग बना दें।

•

२१ फरवरी १९६४

४६

कभी कभी ऐसा भी लगता है —
"तभी पास आते हो
जब बहुत दूर जाते हो"

अन्तरग मे
पोर पोर मे बसे हुए —
मुझे स्वय मे रमाये —
कहाँ-कहाँ लिये चले जाते हो !
भागते हुए पेड, नदी, खेत
छोड पीछे —
खिडकी से लगे-लगे दोनो,
पसरी हुई धरती के छोर तक,
साथ साथ दूर हुए जाते हैं ।

थकी हुई आँखो मे नीद —
माथे की सलवट पर हलकी हथेली —
नीद का सपना
हथेली की नमी
बन
उतर आती हूँ ।

पर
अगले ही क्षण
मेरे आसुओ म चमकते हुए तुम
शीशे के चाद से
ढुलक आते हो

और दूरी मे पास रहने का
सूना मनबहलाव
— नस-नस मे तनाव का
सैलाब उठा लाता है।
— बचकानी खुशिया,
भुलावा,
सहज खुश रहने का
हर मधुर दावा,
बहा-बहा
दूर फेक आता है।

•

२३ सितम्बर १९६३

सुबह
जो हर दिन
चिडिया-सी चहचहाती आती थी,
कन्धे बैठ जाती थी,
आज —
घोसले से गिरे बच्चे सी
निस्पन्द पडी है।

क्या अब यह चोच नही खोलेगी ?
क्या अब यह पख हिलेंगे नही ही ?

किन्तु इन प्रश्नो से पहले ही
मेरा सिर झुका स्वार्थ
पूछ उठता है —

क्या ऐसे ही —
रोज-रोज थके पाव आने वाली
राख भरी शाम
आज ही अचानक —
घुँघरू छनकाती,
चूनर लहराती,

लाखों गुलाबों की सुर्ख़ शहज़ादी बन
आँगन आ जायेगी ?

इसका विश्वास हो जाये तो
बिना झुके,
बिना छुए,
हाय झाड चल दूँ मैं।

माँ चिड़िया के आने से पहले ही,
अभी ही।

●

१८ जून १९६२

४८

विक्षिप्त और लडखडाते पाव —
गहरी रात मे चमकते
उदाम मकान की खोखली खिडकियो से
दूर रह जाते है।

पत्तो मे सन्नाटा सरसराता है,
पेडो मे चीते लोट जाते है।

और आ जाते है आसू
उन पर झुंझलाहट —

आसू मे अकस्मात्
अगारे
उग आते है।

तब मैं सिर धुनती हूँ —
हवा-सी बिलखती हूँ —
लहर सा पछाड खाता
पागल मन मेरा
बार-बार रोता है —
'उनको मै
क्या भूली ?
मै उनका—क्या कभी भूली ??
●

८ अक्तूबर १९६१

४९

दद की कुछ और कडियाँ बढ गयी है।

शाम ज्यादा जद, रातें सद
वीरानी सुबह, सूनी दुपहरी —
जिन्दगी अजगर सरीखी
सिमट खुलकर रेंगती।

सौ बरस की नीद सा सपना
कहा तक और फैलेगा
न जाने।
और कितने युग खुदेगी नीद मन म।
बन्द कब होग हथौडे छेनिया।
पत्थरा की यह ढुलाई
कौन जाने
कब रुकेगी!

मकबरा बन जाये,
राहत मिल सके मुझको,
असेंवे दुग म

कब
बिना छूई,
बिना रोयी,
सो रहूँगी?

●

२२ मई १९५७

लकडी की इमारतो मे
पढे लिखो का जमघट
क्योकि वो इतने 'सिनिकल
अब भी नही
जितना कैनब्रा ।
(उदास घाटियो मे आसू-भरे बादल ?
धुली रोशनी मे नन्ही इमारत !
अरे, कैनब्रा का 'एबोरिजनल' नाम !!
'यारालुमला'[1] और 'मनूका' का
ध्वनि-माधुर्य !!!)

दोस्त छोड दो न मुझे —
फिजूल उलझते हो —
न हो,
साफ साफ जरा सोचो,
देखना चाहो
तो
उलट लो मेरा काड
और भर लो आखो मे
'कैनब्रा का ऑटम' ।
(टैराकोटा सा आधा तपा)

पहचान लो —
'सिनिक' होने के नाते
न फबने वाले कैनब्रा के प्रति
मेरा प्यार —

१ कैनब्रा की दो बस्तियाँ।

तब कहा,
क्या 'इन्टलेक्चुअल' मैं था तुम ?

रवीन्द्र की कविता का उत्तर

२

मैंने महादेश के उत्तर में
कोलाहल भरा नगर भेजती हूँ।
घनी आबादी से बसा हुआ
बादल के एम्परेम्प्स से पटा आसमान —
जो बस
बरसता है तो
बरसता ही जाता है।

हरिता ममता में पीपल उगती है
ऐसे ही आते हैं पौधे।
मानों में लगता है
जैसे
ये पौधे ही
'दिखावार उगाने, रंग' बनाते हैं।

जिन्ह देख
मन उदास हो जाता है।
वो
जो अभी तक
बीस बरस पुरानी दुनिया की बातो को
सोच-सोच दुहराते,
अपनी बताते हैं।

शायद
मैं भी उन्ही मे हूँ —
'सिनिक' और सीमित और स्वार्थी
तेरे कैनब्रा के पेडा को चूम
वाहियात लिखती हूँ
जहर ‹›

किसी पत्र
सधन्यवाद वापस

अपने
'

'राग मिल से मुझसे' वगैरह वगैरह

यार,
'सागर-मन्थन' की बात क्यों करते हो ?
हम तुम्हारी कविता का
सुनमा था गया,
इतना [illegible] नहीं
आसमान पर गए !

•

जिन्हें देख
मन उदास हो जाता है।
वो
जो अभी तक
बीस बरस पुरानी दुनिया की बातों को
सोच-सोच दुहराते,
अपनी बताते हैं।

शायद
मैं भी उन्हीं में हूँ —
'सिनिक' और सीमित और स्वार्थी !
तेरे कैनब्रा के पेड़ों को चूम कर
वाहियात लिखती हूँ —
जहर उगलती हूँ।

— क्योंकि
किसी पत्र ने कविताएँ
सधन्यवाद वापस भेजी हैं —

और फिर
अपने ही जहर को
'बूज़' समझती हूँ'
पीती हूँ।

और
अपना ही
'गजीबा' बनाती हूँ !
'मकबरा बन जाये,

जिन्हें देख
मन उदास हो जाता है।
वो
जो अभी तक
बीस बरस पुरानी दुनिया की बातों को
सोच-सोच दुहराते,
अपनी बताते हैं।

शायद
मैं भी उन्हीं में हूँ —
'मिनिक' और सीमित और स्वार्थी।
तेरे कैनब्रा के पेड़ों को चूम कर
वाहियात लिखती हूँ —
ज़हर उगलती हूँ।

— क्योंकि
किसी पत्र ने कविताएँ
सधन्यवाद वापस भेजी हैं —

और फिर
अपने ही जहर को
'बूज़' समझती हूँ'
पीती हूँ।

और
अपना ही
'गजीबो' बनाती हूँ।
'मक्बरा बन जाये,

५२

एक पवन, एक लहर,
खिड़की भर चाँद पूरा।
झाँक के उधर भर कर
एक बार।
घनी रातों जहाँ —
पटापट
बादल के लाहू के द्वार बन्द।
खिड़की भर चाँद खुला —
दीठा सा —
नाकर, नशीली लगा था ना!
●

१० भादव १९६३

५१

रात एक नया गीत गाया था,
किसी ने खुद आकर बजाया था।
(पिघली हुई आग सा राग या पिलाया था)

किन्तु सुबह होते ही
गीत वह भूल गया।
और
वह साजदा —
देह के कसे तार छेड
लौट आया जो
चौंक कर पूछ रहा —
"गीत ?
अरे, क्या
तेरे
किसी सपने म
मैं कभी आया था ?"

•

२३ जुलाइ १९५९

एक परत, एक लहर,
खिड़की भर चाँद खुला।
ताल के ऊपर तर बर
एक बार।
घनी रोशनी जहाँ —
घटाटोप
बादल के लाठ के द्वार बन्द।
खिड़की भर चाँद बुझा —
सोचा था —
सावन, नसीबों लगा ला था!
●

१ श्रावण १९९०

५३

दुपहरिया फूला सा तपा छिपा प्यार
देखा ही किसने ?
कब ?
मरुथल सी आखो का रेतीला ज्वार
बूँद-भरे सागर के
पीछे ही पीछे तो सदा रहा —
जाना ही किसने ?
कब ?

सँकरीली, पथरीली गलियो म
आकुलता भागी थी
बरसा से, जन्मा से।
जडता का पत्थर जो जमा उसे
पल-भर का उजियाला,
नभ छूते पडो की हरियाली,
धरती का सोधापन,
भाया था।
जडता के पत्थर का देख
— भला —
माना ही किसने ?
कब ?

तुम कभी क्या मानोगे ?
बादल तो भरा-पुरा जाता है
भरा-पुरा जाता है,
रेगिस्तानी मन का मृग जल मान
कभी
तोड़ नहीं पाता है ।

●

२२ मई १९५७

५४

एक गहरी आवाज़
चल रही है मेरे अन्दर
तमाम बन्द द्वार खटखटाती
वो सारे सवाल उठाती
जो मुझे खुद से पूछने का
साहस नहीं हुआ ।

मेरी तहों में जल उठे हैं चिराग
सारी सम्भावनाएँ
अपने-अपने ब्रह्माण्ड को समेटे
दूर से नगण्य दिखते तारे सी
जगमगाने लगी हैं ।

उभरने लगी है रात
जिसके अँधेरे में
कई बातें हो जाती हैं सम्भव
लेकिन जो
खरी उतरती हैं तभी
जब सूरज से मिला पाती हैं
आँख ।

भीतर ही भीतर
उगते हुए भाग
फैलने लगे हैं गिरकर —
उसी आवाज के सहारे
रेखाएँ हो चलीं सीधी।

अँधेरे से डर नहीं है
अँधेरे से डर नहीं है

मेरा अस्तित्व एक तीर हो गया है।

●

८ अक्तूबर १९६८

५५

मैने बहुत से कोमल भावो की
हत्या कर दी है,
इस हत्या का दोष मेरे सिर है,
केवल मेरे।

बहुत से पवित्र विश्वासो को
क्षण की आँधी म उडा दिया।
इन घासलो के बिखर जाने का दायित्व
मेरे कन्धा है
केवल मेरे।

अनेको उजले होठो की निरभ्र मुसकान
मेरे अपवित्र हाथो ने पोछ दी।
पीले पडे गालो पर बहते आसुओ का
अजस्र स्रोत
मैने उन्मुक्त किया है —
केवल मैने।

किन्तु मैं
    अविचार नहीं हूँ
    समय नहीं हूँ
    लाचारी भी नहीं हूँ।

क्या तुम जानते हो
    — मैं क्या हूँ?

•

२१ अगस्त १९६२

५६

काश, मरी कविता तुम्हारे हाथो म
गा देती !
यदि मेरी अनुभूति तुम्हारी शिराओ म
झनझनाती !
बह जाती !

तुम्हारी नीली रेखाओ वाली पलका की
अबोध झपकन के
कुछ भी अथ न निकलते
और
निरथक स्पन्दन सस्वर हो जाते !

काश, वह सब हो जाता
जो अब तक नही हुआ —
पुलक से फूल झरते
फूलो की परछाइया बनती
परछाइया बादल हो जाती
छा जाती
और
फिर भी धूप का सुनहरा इन्द्रधनुप
तना ही रहता !

जनमन तुम मुक्त न
व्यथ हो कोई झकझोर कर
शीत स्पर्श से छूता न ।

काग, नाग, फाग,

मैं आँख मूँद
जरो उस स्वर नमट पाती —
खो जाती
गाती हो रहती —

•

२८ नवम्बर १९६०

५७

भीड भरी
अकेली शाम
और
घुटी हुई नगरी म
सास लेता हुआ मेरा मन
मर गया।

विशालकाय पहियों के नीचे
पिसी देह
आख खाल देख रही
कि वह
परित्यक्ता हा चुकी —
भय रोगिणी-सी
अस्पृश्या।

भोड उसे छोड आगे निकल गयी
और
क्षण भर म मैं अपने
नये, नितान्त असम्पृक्त
अकेलेपन से
ऊर कर उठ गयी।

दूर खिड़की के पार
हरे भरे मैदान हैं,
— [illegible] —
उदास, हर क्षण नुचते
पेड़ हैं —
अनजाने,
नंगे, सूखी पत्तियाँ झाड़े।

और
प्यार की असम्भव कल्पना है
बन्द मुट्ठी से फिसलती
रेत-सी,
असफल प्रयास-सी।

चारों ओर से घबराकर
राहत ढूँढ़ता हर व्यक्ति
मेरा मन,
[illegible],
[illegible]
[illegible] रहा है —
[illegible]
[illegible]
[illegible] परिस्थितियों के [illegible] —

[illegible] —
[illegible]
[illegible] —
•

[illegible] १९६६

कर गया अवरुद्ध
और
भर गया धमनियो म
अपने ही स्नेह का
विकल बोझ ।

आवाज आत्मज को पुकारती
नापती रही दूरी,
कापती रही
स्वयसिद्ध उत्तराभाव मे ।

●

३० जुलाई १९६३

व्यक्तित्व की परतों में,
दूर तह में,
एक-एक तुम्हारा स्पन्दन
जम गया है
पत्थर बनकर [illegible] —
जो मेरे अहं के चारों ओर
इधर उधर न देखा [illegible]
नितान्त [illegible] तुम्हारा है।

उस [illegible] पारदर्शी [illegible]
छिन्न भिन्न [illegible]
जो होता है
दृष्टि उसका [illegible]।

गुलाब की लाल पखड़ियों वाले
मेरे व्यक्तित्व की हर परत म
हर तह म
पतले वफ के शीशे से
जमे हुए हो ।

म आर-पार
अपने को छू नही पाती ।
सास भी ल नही पाती ।
और
धीरे-धीरे
सारी लाल पखड़िया
काली
हुई जाती ह ।
•

१९ माच १९६२

६१

प्रथम स्पर्श का जन्मदिन
प्रथम पुलक सीन सा
एक याद—
दूरी न बीत गया।

दुविधा की सुन बात
गुज़र गयी पास से।

मगर अब ?
दूर तक
आकाश टँगे तारे सा
[illegible]
निकट पर
बीत गया।
●

११ सितम्बर १९६६

६२

मीत हमारे !

चैत चादनी खिली
खुली रगीन वदलिया ।
सहजन की चिकनी डालो पर
कचिया हरे रग के पत्ते
उग आये है ।
जमुवा बौरा चुका —
लदा छोटी अमिया से ।
मेरे लीची के पडो पर यौवन आया ।

मीत हमारे !

याद चाद सी उगी
उगा गयी, मन फुलवगिया ।
तितली के पखो से झरकर
मीठी मोठी, अनमन, ऊँघो,
छोन उदासी बरस पडी है !
पिय परदेसी वने
न जाने कैसा हिय है !
निबुवा के सब फूल झर चुके
मन भर आया ।

●

४ अप्रल १९५५

६३

ि बहुत बड़ा, पंख वाला
ला साँप
ता हुआ आया है ।
ा शीश लेकर
ता पर छाया है ।
ड़्गी जमा कर
र पर आ बैठा है
र के हाहाकार से अमित
र के इद गिर्द
या है ।

न ग को लगा जैसे
धकार हो गया ।
एक का शीश गिरा
नि ने
नाल पर पड़ा कर ।

ण्या के हुंकार करता दर
ा का
न्म बढ़ते आया गया ।

आयी वही नदियों के गीत
सहम, थम गये ।

शिव के डमरू पर थाप नयी बजी
गुडिया के गहना की जगह
मिट्टी और काठ की
सेनाएँ सजी ।
उड़ती हुई सद हवा सनसनाती
वेध जायेगी ।
युद्ध की विभीषिका
जीवन से मरण तक
असत्य
समानान्तर
रेखाएँ खींच जायेगी ।

किन्तु
हर सपदवी देह की आत्मा से एक
कृष्ण
सावली सशक्त बाहु उठा चला आयेगा —

सर्प की एक ऐठन को
ढीला कर —
फन को आबद्ध कर —
नाच नचा जायेगा ।

•

१० जनवरी १९६३

६४

धरती तल पर रिसते नासूर लिये
जाता
सार विस्तार माप गया —

नहीं मिला अन्वेषी
नहीं मिली मात्रा भी
वह अमोघ ज्वाला
जो जन-मन का रोग दूर करती,
[illegible] तो शान्त नहीं पाया
जिसके स्पन्दन से
प्राण हों ऋद्धित,
वह अपाप्य सार
जिसका ज्ञान
बांटता भूगभाएँ —
[illegible] भार —
वहीं पर [illegible] था।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

शत्त बहुत बडी थी

— अश्विनी मिले किन्तु
दान न दे।

— शास्त्र किसी और के हाथ धरा
पाऊँ ना।

— माला किसी अन्य की
शान्ति का साधन हो,
अपने निमित्त तब
दृष्टि उठाऊँ ना।

रिसे हुए घाव
बहुत तपे हुए पाव
रहे।

कभी कही बैठेगी छाह तले,
किन्ही
शक्तिवान पैरा की सगति मे
लेगी
दो-चार कापते डग नये।

एक दिन किन्तु ऐसा आ जायेगा,
हताशा का अन्तिम छोर छू जायगा।

उस दिन
अंगहीन, स्पर्शहीन, दृष्टिहीन
आत्मा,
मूल आधार तक
ओस गाल सटेगी।
केवल
हवा उड़कर
रूखे केश समेटेगी।

•

२८ सितम्बर १९६१